४

तीर्थंकर : मुक्ति-पथ का प्रस्तोता

'तीर्थंकर' जैन-साहित्य का एक मुख्य पारिभाषिक शब्द है। यह शब्द कितना पुराना है, इसके लिए इतिहास के फेर में पड़ने की जरूरत नहीं। आजकल का विकसित-से-विकसित इतिहास भी इसका प्रारम्भ काल पा सकने में असमर्थ है। और, एक प्रकार से तो यह कहना चाहिए कि यह शब्द उपलब्ध इतिहास सामग्री से है भी बहुत दूर-परे की चीज।

जैन-धर्म के साथ उक्त शब्द का अभिन्न सम्बन्ध है। दोनों को दो अलग-अलग स्थानों में विभक्त करना, मानो दोनों के वास्तविक स्वरूप को ही विकृत कर देना है। जैनों की देखा-देखी यह शब्द अन्य परंपराओं[१] में भी कुछ-कुछ प्राचीन काल में व्यवहृत हुआ है, परन्तु वह सब नहीं के बराबर है। जैनों की तरह उनके यहाँ यह एकमात्र रूढ़ एवं उनका अपना निजी शब्द बन कर नहीं रह सका।

तीर्थंकर की परिभाषा :

जैन-धर्म में यह शब्द किस अर्थ में व्यवहृत हुआ है, और इसका क्या महत्त्व है? यह समझ लेने की बात है। तीर्थंकर का शाब्दिक अर्थ होता है—तीर्थ का कर्ता अर्थात् बनाने वाला। 'तीर्थ' शब्द का जैन-परिभाषा के अनुसार मुख्य अर्थ है—धर्म। संसार-समुद्र से आत्मा को तिरानेवाला एकमात्र अहिंसा एवं सत्य आदि धर्म ही है। अतः धर्म को तीर्थ कहना शब्द-शास्त्र की दृष्टि से उपयुक्त ही है। तीर्थंकर अपने समय में संसार-सागर से पार करनेवाले धर्म-तीर्थ की स्थापना करते हैं, अतः वे तीर्थंकर कहलाते हैं। धर्म के आचरण करनेवाले साधु, साध्वी, श्रावक (गृहस्थ पुरुष) और श्राविका (गृहस्थ स्त्री-रूप) चतुर्विधसंघ को भी गौण दृष्टि से तीर्थ कहा जाता है। अतः चतुर्विध धर्म-संघ की स्थापना करनेवाले महापुरुषों को तीर्थंकर कहते हैं।

जब-जब संसार में अधर्म का, अत्याचार का राज्य होता है, प्रजा दुराचारों से उत्पीड़ित हो जाती है, लोगों में धार्मिक-भावना क्षीण होकर पाप-भावना जोर पकड़ लेती है, तब-तब संसार में तीर्थंकर जैसे महापुरुषों का अवतरण होता है। और, संसार की मोह-माया का परित्याग कर, त्याग और वैराग्य की अखंड साधना में रम कर, अनेकानेक भयंकर कष्ट उठाकर, पहले स्वयं सत्य की पूर्ण ज्योति का दर्शन करते हैं—जैन-परिभाषा के अनुसार केवलज्ञान प्राप्त करते हैं, और फिर मानव-संसार को धर्मोपदेश देकर उसे असत्य-प्रपंच के चंगुल से छुड़ाते हैं, सत्य के पथ पर लगाते हैं और संसार में पूर्ण सुख-शान्ति का आध्यात्मिक साम्राज्य स्थापित करते हैं।

तीर्थंकरों के शासन-काल में प्रायः आसन्न भव्य स्त्री-पुरुष अपने आप को पहचान लेते हैं, और 'स्वयं सुख पूर्वक जीना, दूसरों को सुख पूर्वक जीने देना तथा दूसरों को सुख पूर्वक जीते रहने के लिए अपने सुखों की कुछ भी परवाह न करके अधिक-से-अधिक सहायता देना'—उक्त महान् सिद्धान्त को अपने जीवन में उतार लेते हैं। अस्तु तीर्थंकर वह है, जो संसार को सच्चे धर्म का उपदेश देता है, आध्यात्मिक तथा नैतिक पतन की ओर ले जाने

१. देखिए, बौद्ध साहित्य का 'लंकावतार सूत्र'।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वाले पापाचारों से बचाता है। संसार को भौतिक सुखों की लालसा से हटाकर आध्यात्मिक सुखों का प्रेमी बनाता है। और, बनाता है नरक-स्वरूप उन्मत्त एवं विक्षिप्त संसार को 'सत्यं-शिवं-सुन्दरम्' का स्वर्ग !

तीर्थंकर की विशेष व्याख्या अपेक्षित है। तीर्थंकर का मूल अर्थ है—तीर्थ का निर्माता। जिसके द्वारा संसाररूप मोहमाया का महानद सुविधा के साथ तिरा जाए, वह धर्म, तीर्थ कहलाता है। संस्कृत-भाषा में घाट के लिए भी 'तीर्थ' शब्द प्रयुक्त होता है। अतः ये घाट के बनानेवाले तैराक, लोक में तीर्थंकर कहलाते हैं। हमारे तीर्थंकर भगवान् भी इसी प्रकार घाट के निर्माता थे, अतः तीर्थंकर कहलाते थे। आप जानते हैं, यह संसार-रूपी नदी कितनी भयंकर है ! क्रोध, मान, माया, लोभ आदि के हजारों विकाररूप मगरमच्छ, भँवर और गर्त हैं इसमें, जिन्हें पार करना सहज नहीं है। साधारण साधक इन विकारों के भँवर में फँस जाते हैं, और डूब जाते हैं। परन्तु तीर्थंकर देवों ने सर्व-साधारण साधकों की सुविधा के लिए धर्म का घाट बना दिया है, सदाचाररूपी विधि-विधानों की एक निश्चित योजना तैयार कर दी है, जिससे कोई भी साधक सुविधा के साथ इस भीषण नदी को पार कर सकता है।

तीर्थ का अर्थ पुल भी है। बिना पुल के नदी से पार होना बड़े-से-बड़े बलवान् के लिए भी अशक्य है; परन्तु पुल बन जाने पर साधारण, दुर्बल एवं रोगी यात्री भी बड़े आनन्द से पार हो सकता है। और तो क्या, नन्हीं-सी चींटी भी इधर से उधर पार हो सकती है। हमारे तीर्थंकर वस्तुतः संसार की नदी को पार करने के लिए धर्म का तीर्थ बना गए हैं, पुल बना गए हैं, साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका-रूप चतुर्विध संघ की धर्म-साधना, संसार-सागर से पार होने के लिए पुल है। अपने सामर्थ्य के अनुसार इनमें से किसी भी पुल पर चढ़िए, किसी भी धर्म-साधना को अपनाइए, आप उस पार हो जाएँगे।

आप प्रश्न कर सकते हैं कि इस प्रकार धर्म-तीर्थ की स्थापना करनेवाले तो भारत-वर्ष में सर्वप्रथम श्रीऋषभदेव भगवान् हुए थे; अतः वे ही तीर्थंकर कहलाने चाहिए। दूसरे तीर्थंकरों को तीर्थंकर क्यों कहा जाता है? उत्तर में निवेदन है कि प्रत्येक तीर्थंकर अपने युग में प्रचलित धर्म-परम्परा में समयानुसार परिवर्तन करता है, अतः नये तीर्थ का निर्माण करता है। पुराने घाट जब खराब हो जाते हैं, तब नया घाट बनाया जाता है न ? इसी प्रकार पुराने धार्मिक विधानों में विकृति आ जाने के बाद नये तीर्थङ्कर, संसार के समक्ष नये धार्मिक विधानों की योजना उपस्थित करते हैं। धर्म का मूल प्राण वही होता है, केवल क्रियाकाण्ड-रूप शरीर बदल देते हैं। जैन-समाज प्रारम्भ से, केवल धर्म की मूल भावनाओं पर विश्वास करता आया है, न कि पुराने शब्दों और पुरानी पद्धतियों पर। जैन तीर्थंकरों का शासन-भेद, उदाहरण के लिए, भगवान् पार्श्वनाथ और भगवान् महावीर का शासन-भेद, मेरी उपर्युक्त मान्यता के लिए ज्वलन्त प्रमाण है।

अष्टादश दोष :

जैन-धर्म में मानव-जीवन की दुर्बलता के अर्थात् मनुष्य की अपूर्णता के सूचक निम्नोक्त अठारह दोष माने गए हैं—

१. मिथ्यात्व=असत्य विश्वास, विपरीत दृष्टि।
२. अज्ञान=मिथ्यात्वग्रस्त कुज्ञान।
३. क्रोध।
४. मान।
५. माया=कपट।
६. लोभ।
७. रति=मन पसन्द मनोज्ञ वस्तु के मिलने पर हर्ष।
८. अरति=अमनोज्ञ वस्तु के मिलने पर क्षोभ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

९. निद्रा=सुप्त चेतना।
१०. शोक।
११. अलीक=झूठ।
१२. चौर्य=चोरी।
१३. मत्सर=डाह।
१४. भय।
१५. हिंसा।
१६. राग=आसक्ति।
१७. क्रीड़ा=खेल-तमाशा, नाच-रंग।
१८. हास्य=हँसी-मजाक।

जब तक मनुष्य इन अठारह दोषों से सर्वथा मुक्त नहीं होता, तब तक वह आध्यात्मिक शुद्धि के पूर्ण विकास के पद पर नहीं पहुँच सकता। ज्यों ही वह अठारह दोषों से मुक्त होता है, त्यों ही आत्म-शुद्धि के महान् ऊँचे शिखर पर पहुँच जाता है और केवलज्ञान एवं केवल-दर्शन के द्वारा समस्त विश्व का ज्ञाता-द्रष्टा बन जाता है। तीर्थंकर भगवान् उक्त अठारह दोषों से सर्वथा रहित होते हैं। एक भी दोष, उनके जीवन में नहीं रहता।

तीर्थंकर ईश्वरीय अवतार नहीं :

जैन तीर्थंकरों के सम्बन्ध में कुछ लोग बहुत भ्रान्त धारणाएँ रखते हैं। उनका कहना है कि जैन अपने तीर्थंकरों को ईश्वर का अवतार मानते हैं। मैं उन बन्धुओं से कहूँगा कि वे भूल में हैं। जैन-धर्म ईश्वरवादी नहीं है। वह संसार के कर्ता, धर्ता और संहर्ता किसी एक ईश्वर को नहीं मानता। उसकी यह मान्यता नहीं है कि हजारों भुजाओं वाला, दुष्टों का नाश करने वाला, भक्तों का पालन करने वाला, सर्वथा परोक्ष कोई एक ईश्वर है। और वह यथासमय त्रस्त संसार पर दयाभाव लाकर गो-लोक, सत्य-लोक या वैकुण्ठ धाम आदि से दौड़कर संसार में आता है, किसी के यहाँ जन्म लेता है और फिर लीला दिखाकर वापस लौट जाता है। अथवा जहाँ कहीं भी है, वहीं से बैठा हुआ संसार-घटिका की सूई फेर देता है और मनचाहा बजा देता है—

"भ्रामयन् सर्वभूतानि, यन्त्रारूढ़ानि मायया।"

—गीता, १८/६१

जैन-धर्म में मनुष्य से बढ़कर और कोई दूसरा महान् प्राणी नहीं है। जैन-शास्त्रों में आप जहाँ कहीं भी देखेंगे, मनुष्यों को सम्बोधन करते हुए 'देवाणुप्पिय' शब्द का प्रयोग पाएँगे। उक्त सम्बोधन का यह भावार्थ है कि 'देव-संसार' भी मनुष्य के आगे तुच्छ है। वह भी मनुष्य के प्रति प्रेम, श्रद्धा एवं आदर का भाव रखता है। मनुष्य असीम तथा अनन्त शक्तियों का भंडार है। वह दूसरे शब्दों में स्वयंसिद्ध ईश्वर है, परन्तु संसार की मोह-माया के कारण कर्म-मल से आच्छादित है, अतः बादलों से ढँका हुआ सूर्य है, जो सम्यक्-रूप से अपना प्रकाश नहीं प्रसारित कर सकता।

परन्तु ज्यों ही वह होश में आता है, अपने वास्तविक स्वरूप को पहचानता है, दुर्गुणों को त्यागकर सद्गुणों को अपनाता है; तो धीरे-धीरे निर्मल, शुद्ध एवं स्वच्छ होता चला जाता है, एक दिन जगमगाती हुई अनंत शक्तियों का प्रकाश प्राप्त कर मानवता के पूर्ण विकास की कोटि पर पहुँच जाता है और सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अर्हन्त, परमात्मा, शुद्ध, बुद्ध बन जाता है। तदनन्तर जीवन्मुक्त दशा में संसार को सत्य का प्रकाश देता है और अन्त में निर्वाण पाकर मोक्ष-दशा में सदा के लिए अमर-अविनाशी—जैन-परिभाषा में सिद्ध हो जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अस्तु, तीर्थंकर भी मनुष्य ही होते हैं। वे कोई अजीब, अद्भुत दैवी सृष्टि के प्राणी, ईश्वर, अवतार या ईश्वर के अंश जैसे कुछ नहीं होते। एक दिन वे भी हमारी-तुम्हारी तरह ही वासनाओं के गुलाम थे, पाप-मल से लिप्त थे, संसार के दुःख, शोक, आधि-व्याधि से संत्रस्त थे। सत्य क्या है, असत्य क्या है—यह उन्हें कुछ भी पता नहीं था। इन्द्रिय-सुख ही एकमात्र ध्येय था, उसी की कल्पना के पीछे अनादि-काल से नाना प्रकार के क्लेश उठाते, जन्म-मरण के झंझावात में चक्कर खाते घूम रहे थे। परन्तु अपूर्व पुण्योदय से सत्पुरुषों का संग मिला, चैतन्य और जड़ का भेद समझा, भौतिक एवं आध्यात्मिक सुख का महान् अन्तर ध्यान में आया, फलतः संसार की वासनाओं से मुँह मोड़ कर सत्य-पथ के पथिक बन गए। आत्म-संयम की साधना में पूर्व के अनेक जन्मों से ही आगे बढ़ते गए और अन्त में एक दिन वह आया कि आत्म-स्वरूप की पूर्ण उपलब्धि उन्हें हो गई। ज्ञान की ज्योति जगमगाई और वे अर्हन्त एवं तीर्थंकर के रूप में प्रकट हो गए। उस जन्म में भी यह नहीं कि किसी राजा-महाराजा के यहाँ जन्म लिया और वयस्क होने पर भोग-विलास करते हुए ही तीर्थंकर हो गए। उन्हें भी राज्य-वैभव छोड़ना होता है, पूर्ण अहिंसा, पूर्ण सत्य, पूर्ण अस्तेय, पूर्ण ब्रह्मचर्य और पूर्ण अपरिग्रह की साधना में निरन्तर जुटा रहना होता है, पूर्ण विरक्त मुनि बनकर एकान्त-निर्जन स्थानों में आत्म-मनन करना होता है। अनेक प्रकार के आधिभौतिक, आधिदैविक एवं आध्यात्मिक दुःखों को पूर्ण शान्ति के साथ सहन कर प्राणापहरी शत्रु पर भी अन्तर्हृदय से दयामृत का शीतल झरना बहाना होता है, तब कहीं पाप-मल से मुक्ति होने पर केवलज्ञान और केवलदर्शन की प्राप्ति के द्वारा तीर्थंकर पद प्राप्त होता है।

तीर्थंकर का पुनरागमन नहीं :

बहुत से स्थानों में जैनेतर बन्धुओं द्वारा यह शंका सामने आती है कि "जैनों में २४ ईश्वर या देव हैं, जो प्रत्येक काल-चक्र में बारी-बारी से जन्म लेते हैं और धर्मोपदेश देकर पुनः अन्तर्धान हो जाते हैं।" इस शंका का समाधान कुछ तो पहले ही कर दिया गया है। फिर भी स्पष्ट शब्दों में यह बात बतला देना चाहता हूँ—जैन-धर्म में ऐसा अवतारवाद नहीं माना गया है। प्रथम तो अवतार शब्द ही जैन-परिभाषा का नहीं है। यह एक वैष्णव-परम्परा का शब्द है, जो उसकी मान्यता के अनुसार विष्णु के बार-बार जन्म लेने के रूप में राम, कृष्ण आदि सत्पुरुषों के लिए आया है। आगे चलकर यह मात्र महापुरुष का द्योतक रह गया और इसी कारण आजकल के जैन-बन्धु भी किसी के पूछने पर झटपट अपने यहाँ २४ अवतार बता देते हैं, और तीर्थंकरों को अवतार कह देते हैं। परन्तु इसके पीछे किसी एक व्यक्ति के द्वारा बार-बार जन्म लेने की भ्रान्ति भी चली आई है; जिसको लेकर अबोध जनता में यह विश्वास फैल गया है कि २४ तीर्थंकरों की मूल संख्या एक शक्तिविशेष के रूप में निश्चित है और वही महाशक्ति प्रत्येक काल-चक्र में बार-बार जन्म लेती है, संसार का उद्धार करती है और फिर अपने स्थान में जा कर विराजमान हो जाती है।

जैन-धर्म में मोक्ष प्राप्त करने के बाद संसार में पुनरागमन नहीं माना जाता। विश्व का प्रत्येक नियम कार्य-कारण के रूप में सम्बद्ध है। बिना कारण के कभी कार्य नहीं हो सकता। बीज होगा, तभी अंकुर हो सकता है; धागा होगा, तभी वस्त्र बन सकता है। आवागमन का, जन्म-मरण पाने का कारण कर्म है, और वह मोक्ष अवस्था में नहीं रहता। अतः कोई भी विचारशील सज्जन समझ सकता है—जो आत्मा कर्म-मल से मुक्त होकर मोक्ष पा चुकी, वह फिर संसार में कैसे आ सकती है? बीज तभी उत्पन्न हो सकता है, जब तक कि वह भुना नहीं है, निर्जीव नहीं हुआ है। जब बीज एक बार भुन गया, तो फिर कभी भी उससे अंकुर उत्पन्न नहीं हो सकता। जन्म-मरण के अंकुर का बीज कर्म है। जब उसे तपश्चरण आदि धर्म-क्रियाओं से जला दिया, तो फिर जन्म-मरण का अंकुर कैसे फूटेगा? आचार्य उमास्वाति ने अपने तत्त्वार्थ भाष्य में, इस सम्बन्ध में क्या ही अच्छा कहा है—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

"दग्धे बीजे यथाऽत्यन्तं,
प्रादुर्भवति नांकुरः ।
कर्म-बीजे तथा दग्धे,
न रोहति भवांकुरः ॥

बहुत दूर चला आया हूँ; परन्तु विषय को स्पष्ट करने के लिए इतना विस्तार के साथ लिखना आवश्यक भी था। अब आप अच्छी तरह समझ गए होंगे कि जैन तीर्थंकर मुक्त हो जाते हैं, फलतः वे संसार में दुबारा नहीं आते। अस्तु, प्रत्येक कालचक्र में जो २४ तीर्थंकर होते हैं, वे सब पृथक्-पृथक् आत्मा होते हैं, एक नहीं।

तीर्थंकरों एवं अन्य मुक्त-आत्माओं में अन्तर :

अब एक और गम्भीर प्रश्न है, जो प्रायः हमारे सामने आया करता है। कुछ लोग कहते हैं—'जैन अपने २४ तीर्थंकरों को ही मुक्त होना मानते हैं और कोई इनके यहाँ मुक्त नहीं होते।' यह बिल्कुल ही भ्रान्त धारणा है। इसमें सत्य का कुछ भी अंश नहीं है।

तीर्थंकरों के अतिरिक्त अन्य आत्माएँ भी मुक्त होती हैं। जैन-धर्म किसी एक व्यक्ति, जाति या समाज के अधिकार में ही मुक्ति का ठेका नहीं रखता। उसकी उदार दृष्टि में तो हर कोई मनुष्य, चाहे वह किसी भी देश, जाति, समाज या धर्म का क्यों न हो, जो अपने आप को बुराइयों से बचाता है, आत्मा को अहिंसा, क्षमा, सत्य, शील आदि सद्गुणों से पवित्र बनाता है, वह अनन्त-ज्ञान का प्रकाश प्राप्त करके मुक्त हो सकता है।

तीर्थंकरों की तथा और अन्य मुक्त होने वाले महान् आत्माओं की आंतरिक शक्तियों में कोई भेद नहीं है। केवलज्ञान, केवलदर्शन आदि आत्मिक शक्तियाँ सभी मुक्त होने वाले अर्हन्तों में समान होती हैं। जो कुछ भेद है, वह धर्म-प्रचार की मौलिक दृष्टि का और अन्य योगसम्बन्धी अद्भुत शक्तियों का है। तीर्थंकर महान् धर्म-प्रचारक होते हैं, वे अपने अद्वितीय तेजोबल से अज्ञान एवं अन्ध-विश्वासों का अन्धकार छिन्न-भिन्न कर देते हैं और एक प्रकार से जीर्ण-शीर्ण, गले-सड़े मानव-संसार की काया-पलट कर डालते हैं। उनकी योग-सम्बन्धी शक्तियाँ अर्थात् सिद्धियाँ भी बड़ी ही अद्भुत होती हैं। उनका शरीर पूर्ण स्वस्थ एवं निर्मल रहता है, मुख के श्वास-उच्छवास सुगन्धित होते हैं। बैरानुबद्ध जन्मजात विरोधी प्राणी भी उपदेश श्रवण कर शान्त हो जाते हैं। उनकी उपस्थिति में दुर्भिक्ष एवं अतिवृष्टि आदि उपद्रव नहीं होते, महामारी भी नहीं होती। उनके प्रभाव से रोग-ग्रस्त प्राणियों के रोग भी दूर हो जाते हैं। उनकी भाषा में वह चमत्कार होता है—क्या आर्य और क्या अनार्य मनुष्य, क्या पशु-पक्षी, सभी उनकी दिव्य-वाणी का भावार्थ समझ लेते हैं। इस प्रकार अनेक लोकोपकारी सिद्धियों के स्वामी तीर्थंकर होते हैं, जबकि दूसरे मुक्त होने वाले जीव-आत्मा ऐसे नहीं होते। अर्थात् न तो वे तीर्थंकर जैसे महान् धर्म-प्रचारक ही होते हैं, और न इतनी अलौकिक योग-सिद्धियों के स्वामी ही। साधारण मुक्त जीव अर्हद्-भाव में प्रतिष्ठित हो कर अपना अन्तिम विकास-लक्ष्य अवश्य प्राप्त कर लेते हैं, परन्तु जनता पर तीर्थंकर के समान अपना चिरस्थायी एवं अक्षुण्ण आध्यात्मिक प्रभुत्व नहीं जमा पाते। यही एक विशेषता है, जो तीर्थंकर और मुक्त आत्माओं में भेद करती है।

प्रस्तुत विषय के साथ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि उपरिवर्णित यह भेद मात्र जीवन्मुक्त-दशा में अर्थात् देहधारी अवस्था में ही है। मोक्ष प्राप्ति के बाद सिद्धदशा में कोई भी भेदभाव नहीं रहता। वहाँ तीर्थंकर और अन्य मुक्त आत्मा, सभी एक ही स्वरूप में रहते हैं। क्योंकि जब तक जीवात्मा जीवन-मुक्त दशा में रहता है, तब तक तो प्रारब्ध-कर्म का भोग बाकी ही रहता है, अतः उसके कारण जीवन में भेद रहता है। परन्तु देह-मुक्त दशा होने पर मोक्ष में तो कोई भी कर्म अवशिष्ट नहीं रहता, फलतः कर्म-जन्य भेद-भाव भी नहीं रहता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वर्तमान कालचक्र के चौबीस तीर्थंकर :

वर्तमान काल-प्रवाह में चौबीस तीर्थंकर हुए हैं। प्राचीन धर्म-ग्रन्थों में चौबीसों ही तीर्थंकरों का विस्तृत जीवन-चरित्र मिलता है। परन्तु, यहाँ विस्तार में न जाकर संक्षेप में ही चौबीस तीर्थंकरों का परिचय प्रस्तुत है।

१. ऋषभदेव :

भगवान् ऋषभदेव सर्वप्रथम तीर्थंकर थे। उनका जन्म मानव-सभ्यता के आदिकाल में युगलियों के भोगप्रधान अकर्म-युग में हुआ था, जब मनुष्य वृक्षों के नीचे रहते थे और वन-फल तथा कन्द-मूल खाकर जीवन यापन करते थे। उनके पिता का नाम नाभिराजा और माता का नाम मरुदेवी था। उन्होंने युवावस्था में कर्म-प्रधान आर्य-सभ्यता की नींव डाली। पुरुषों को बहत्तर और स्त्रियों को चौसठ कलाएँ सिखाईं। राजनीति, कृषि, व्यापार, उद्योग आदि का शिक्षण दे कर मात्र प्रकृति पर आश्रित मानव-जाति को अपने पुरुषार्थ एवं कर्म पर खड़ा किया। जैन-पुराणों के अनुसार कोशल देश में अयोध्या---विनीता नगरी की स्थापना भी ऋषभदेव ने की। वे विवाहित हुए। बाद में राज्य त्यागकर दीक्षा ग्रहण की और कैवल्य प्राप्त किया। भगवान् ऋषभदेव का जन्म, चैत्रकृष्णा अष्टमी को और निर्वाण---मोक्ष, माघ कृष्णा त्रयोदशी को हुआ। उनकी निर्वाण-भूमि अष्टापद (कैलाश) पर्वत है। ऋग्वेद, विष्णुपुराण, अग्निपुराण, भागवत आदि वैदिक-साहित्य में भी उनका गुण-कीर्तन किया गया है।

२. अजितनाथ :

भगवान् अजितनाथ दूसरे तीर्थंकर थे। उनका जन्म अयोध्या नगरी में इक्ष्वाकुवंशीय क्षत्रिय सम्राट् जितशत्रु राजा के यहाँ हुआ। माता का नाम विजयादेवी था। भारतवर्ष के दूसरे चक्रवर्ती सगर इनके चाचा सुमित्रविजय के पुत्र थे। भगवान् अजितनाथ का जन्म माघशुक्ला अष्टमी को और निर्वाण चैत्रशुक्ला पंचमी को हुआ। उनकी निर्वाण-भूमि सम्मेतशिखर है, जो आजकल दक्षिण-बिहार में पारसनाथ पहाड़ के नाम से प्रसिद्ध है।

३. संभवनाथ :

भगवान् संभवनाथ तीसरे तीर्थंकर थे। उनका जन्म उत्तर प्रदेश में श्रावस्ती नगरी में हुआ था। पिता का नाम इक्ष्वाकुवंशीय महाराजा जितारि और माता का नाम सेनादेवी था। उन्होंने पूर्व जन्म में विपुलवाहन राजा के रूप में अकालग्रस्त प्रजा का पालन किया था और अपना सब कोष दीनों के हितार्थ लुटा दिया था। भगवान् संभवनाथ का जन्म मार्गशीर्ष शुक्ला चतुर्दशी को और निर्वाण चैत्रशुक्ला पंचमी को हुआ। इनकी भी निर्वाण-भूमि सम्मेतशिखर है।

४. अभिनंदन :

भगवान् अभिनंदननाथ चौथे तीर्थंकर थे। इनका जन्म अयोध्या नगरी के इक्ष्वाकुवंशीय राजा संवर के यहाँ हुआ था। माता का नाम सिद्धार्था था। भगवान् अभिनंदननाथ का जन्म माघशुक्ला द्वितीया को और निर्वाण वैशाखशुक्ला अष्टमी को हुआ था। इनकी निर्वाण-भूमि भी सम्मेतशिखर है।

५. सुमतिनाथ :

भगवान् सुमतिनाथ पाँचवें तीर्थंकर थे। उनका जन्म अयोध्या नगरी (कौशलपुरी) में हुआ था। उनके पिता महाराजा मेघरथ और माता सुमंगलादेवी थीं। भगवान् सुमतिनाथ का जन्म वैशाखशुक्ला अष्टमी को तथा निर्वाण चैत्रशुक्ला नवमी को हुआ था। निर्वाण-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भूमि सम्मेतशिखर है। वे जब गर्भ में आए, तब माता की बुद्धि बहुत श्रेष्ठ और तीव्र हो गई थी, अतः उनका नाम सुमतिनाथ रखा गया।

६. पद्मप्रभ :

भगवान् पद्मप्रभ छठे तीर्थंकर थे। उनका जन्म वत्स देश में कौशाम्बी नगरी के राजा श्रीधर के यहाँ हुआ था। माता का नाम सुसीमा था। जन्म कार्तिककृष्णा द्वादशी को और निर्वाण मार्गशीर्ष कृष्णा एकादशी को हुआ था। निर्वाण-भूमि सम्मेतशिखर है।

७. सुपार्श्वनाथ :

भगवान् सुपार्श्वनाथ सातवें तीर्थंकर थे। उनकी जन्मभूमि काशी (वाराणसी), पिता राजा प्रतिष्ठेन और माता पृथ्वी थीं। आपका जन्म ज्येष्ठशुक्ला द्वादशी को और निर्वाण भाद्रपद कृष्णा सप्तमी को हुआ था। निर्वाण-भूमि सम्मेतशिखर ही है।

८. चन्द्रप्रभ :

भगवान् चन्द्रप्रभ आठवें तीर्थंकर थे। उनकी जन्मभूमि चन्द्रपुरी नगरी थी। पिता राजा महासेन और माता लक्ष्मणा थीं। भगवान् चन्द्रप्रभ का जन्म पौषशुक्ला द्वादशी को और निर्वाण भाद्रपद कृष्णा सप्तमी को हुआ था। निर्वाण-भूमि सम्मेतशिखर है।

९. सुविधिनाथ :

भगवान् सुविधिनाथ (पुष्पदन्त) नौवें तीर्थंकर थे। उनकी जन्मभूमि काकन्दी नगरी थी। पिता राजा सुग्रीव एवं माता रामादेवी थीं। आपका जन्म मार्गशीर्ष कृष्णा पंचमी को और निर्वाण भाद्रपद शुक्ला नवमी को हुआ था। निर्वाण-भूमि सम्मेतशिखर है।

१०. शीतलनाथ :

भगवान् शीतलनाथ दशवें तीर्थंकर थे। उनकी जन्मभूमि भद्दिलपुर नगरी थी। पिता राजा दृढ़रथ और माता नन्दारानी थीं। आपका जन्म माघकृष्णा द्वादशी को और निर्वाण वैशाख-कृष्णा द्वितीया को हुआ था। निर्वाण-भूमि सम्मेतशिखर है।

११. श्रेयांसनाथ :

भगवान् श्रेयांसनाथ ग्यारहवें तीर्थंकर थे। उनकी जन्मभूमि वाराणसी के पास सिंहपुर नगरी थी। पिता राजा विष्णुसेन और माता विष्णुदेवी थीं। आपका जन्म फाल्गुन-कृष्णा द्वादशी को और निर्वाण श्रावणकृष्णा तृतीया को हुआ था। निर्वाण-भूमि सम्मेतशिखर है। ऐसा कहा जाता है कि भगवान् महावीर ने पूर्व-जन्म में त्रिपृष्ठ वासुदेव के रूप में भगवान् श्रेयांसनाथजी के चरणों में उपदेश प्राप्त किया था।

१२ वासुपूज्य :

भगवान् वासुपूज्य बारहवें तीर्थंकर थे। उनकी जन्मभूमि चम्पा नगरी थी। पिता राजा वासुपूज्य और माता जयादेवी थीं। आपका जन्म फाल्गुन कृष्णा चतुर्दशी को और निर्वाण आषाढ़ शुक्ला चतुर्दशी को हुआ था। निर्वाण-भूमि चम्पा नगरी है। वे आजन्म बालब्रह्मचारी रहे, विवाह नहीं किया।

१३ विमलनाथ :

भगवान् विमलनाथ तेरहवें तीर्थंकर थे। उनकी जन्मभूमि पांचाल देश में कम्पिलपुर नगरी थी। पिता राजा कर्तृवर्म और माता श्यामादेवी थीं। आपका जन्म माघ शुक्ला तृतीया और निर्वाण आषाढ़-कृष्णा सप्तमी को हुआ था। निर्वाण-भूमि सम्मेतशिखर है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१४ अनन्तनाथ :

भगवान् अनन्तनाथ चौदहवें तीर्थंकर थे। उनकी जन्म-भूमि अयोध्या नगरी थी। पिता राजा सिंहसेन और माता सुयशा थीं। आपका जन्म वैशाख कृष्णा तृतीया को और निर्वाण चैत्र शुक्ला पंचमी को हुआ था। निर्वाण-भूमि सम्मेतशिखर है।

१५ धर्मनाथ :

भगवान् धर्मनाथ पन्द्रहवें तीर्थंकर थे। उनकी जन्मभूमि रत्नपुर नामक नगरी थी। पिता भानुराजा और माता सुव्रता थीं। आपका जन्म माघ शुक्ला तृतीया को और निर्वाण ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी को हुआ था। निर्वाण-भूमि सम्मेतशिखर है।

१६ शान्तिनाथ :

भगवान् शान्तिनाथ सोलहवें तीर्थंकर थे। आपका जन्म हस्तिनागपुर, आज के हथिनापुर के राजा विश्वसेन की अचिरा रानी से हुआ। आपका जन्म ज्येष्ठकृष्णा त्रयोदशी को और निर्वाण भी इसी तिथि को हुआ। निर्वाण-भूमि सम्मेतशिखर है। भगवान् शान्तिनाथ भारत के १२ चक्रवर्तियों में पंचम चक्रवर्ती राजा भी थे। ऐसा कहा जाता है कि इनके जन्म लेने पर देश में फैली हुई मृगी रोग की महामारी शान्त हो गई थी, इसलिए माता-पिता ने इनका नाम शान्तिनाथ रखा था। ये बहुत ही दयालु प्रकृति के थे। ऐसी कथा मिलती है कि पहले जन्म में जबकि वे मेघरथ राजा थे, कबूतर की रक्षा के लिए उसके बदले में बाज को अपने शरीर का मांस काट कर दे दिया था।

१७ कुन्थुनाथ :

भगवान् कुन्थुनाथ सतरहवें तीर्थंकर थे। उनका जन्म-स्थान हस्तिनागपुर है। पिता सूरराजा और माता श्रीदेवी थीं। आपका जन्म वैशाख कृष्णा चतुर्दशी और निर्वाण वैशाख कृष्णा प्रतिपदा (एकम) को हुआ था। निर्वाण-भूमि सम्मेतशिखर है। भगवान् कुन्थुनाथ भारत के छठे चक्रवर्ती राजा भी थे।

१८ अरनाथ :

भगवान् अरनाथ अठारहवें तीर्थंकर थे। उनका जन्म-स्थान हस्तिनागपुर है, पिता राजा सुदर्शन और माता श्रीदेवी थीं। आपका जन्म मार्गशीर्ष शुक्ला दशमी और निर्वाण भी मार्गशीर्ष शुक्ला दशमी को ही हुआ था। निर्वाण-भूमि सम्मेतशिखर है। भगवान् अरनाथ भारत के सातवें चक्रवर्ती राजा भी थे।

१९ मल्लिनाथ :

भगवान् मल्लिनाथ उन्नीसवें तीर्थंकर थे। उनका जन्म-स्थान विदेहदेश की राजधानी मिथिला नगरी है। पिता कुम्भराजा और माता प्रभावतीदेवी थीं। आपका जन्म मार्गशीर्ष-शुक्ला एकादशी को और निर्वाण फाल्गुन शुक्ला द्वादशी को सम्मेतशिखर पर हुआ। ये वर्तमानकाल के चौबीस तीर्थङ्करों में स्त्री-तीर्थङ्कर थे। उन्होंने विवाह नहीं किया, आजन्म ब्रह्मचारी रहे। स्त्री शरीर होते हुए भी उन्होंने बहुत व्यापक भ्रमण कर धर्म-प्रचार किया। चालीस हजार मुनि और पचपन हजार साध्वियाँ इनके शिष्य हुए। तथा इनके एक लाख उन्यासी हजार श्रावक और तीन लाख सत्तर हजार श्राविकाएँ थीं।

२० मुनिसुव्रतनाथ :

भगवान् मुनिसुव्रतनाथ बीसवें तीर्थंकर थे। उनकी जन्मभूमि मगध देश में राजगृह नगरी थी। पिता हरिवंश-कुलोत्पन्न राजा सुमित्र और माता पद्मावतीदेवी थीं। आपका

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जन्म ज्येष्ठ कृष्णा अष्टमी और निर्वाण ज्येष्ठ कृष्णा नवमी को हुआ। निर्वाण-भूमि सम्मेत-शिखर है।

२१ नमिनाथ :

भगवान् नमिनाथ इक्कीसवें तीर्थंकर थे। इनकी जन्मभूमि मिथिला नगरी थी। कुछ आचार्य मथुरा नगरी बताते हैं। पिता राजा विजयसेन और माता वप्रादेवी थीं। आपका जन्म श्रावण कृष्णा अष्टमी और निर्वाण वैशाख कृष्णा दशमी को हुआ। निर्वाण-भूमि सम्मेत-शिखर है।

२२ नेमिनाथ :

भगवान् नेमिनाथ बाइसवें तीर्थंकर थे। इनका दूसरा नाम अरिष्टनेमि भी था। आपकी जन्मभूमि आगरा के पास शौरीपुर नगर है। पिता यदुवंश के राजा समुद्रविजय और माता शिवादेवी थी। आपका जन्म श्रावणशुक्ला पंचमी और निर्वाण आषाढ़शुक्ला अष्टमी को हुआ। निर्वाण-भूमि सौराष्ट्र में गिरनार पर्वत है, जिसे पुराने युग में रैवतगिरि भी कहते थे। भगवान् अरिष्टनेमि कर्मयोगी श्रीकृष्णचन्द्र के ताऊ के पुत्र भाई थे। श्रीकृष्ण ने भगवान् नेमिनाथ से धर्मोपदेश सुना था। इनका विवाह-सम्बन्ध महाराजा उग्रसेन की सुपुत्री राजीमती से निश्चित हुआ था, किन्तु विवाह के अवसर पर बरातियों के भोजन के लिए पशु-वध होता देख कर इनका हृदय करुणा से द्रवित हो उठा, फलतः इन्होंने विवाह नहीं किया और वापस लौट कर मुनि बन गए।

२३ पार्श्वनाथ :

भगवान् पार्श्वनाथ तेईसवें तीर्थंकर थे। आपकी जन्मभूमि वाराणसी (बनारस) है। पिता राजा अश्वसेन और माता वामादेवी थीं। आपका जन्म पौष कृष्णा दशमी और निर्वाण श्रावण शुक्ला अष्टमी को हुआ। निर्वाण-भूमि सम्मेतशिखर है। आपने कमठ तपस्वी को बोध दिया था और उसकी धूनी में से जलते हुए नाग को बचाया था।

२४ महावीर :

भगवान् महावीर चौबीसवें तीर्थंकर थे। उनकी जन्मभूमि वैशाली (क्षत्रिय कुण्ड—सम्प्रति वासुकुण्ड) है। आपके पिता राजा सिद्धार्थ और माता त्रिशलादेवी थीं। आपका जन्म चैत्रशुक्ला त्रयोदशी और निर्वाण कार्तिक कृष्णा पंदरस (दिवाली) को हुआ। निर्वाण-भूमि पावापुरी है। भगवान् महावीर बड़े ही उत्कृष्ट त्यागी पुरुष थे। भारतवर्ष में सर्वत्र फैले हुए हिंसामय यज्ञों का निषेध करके दया और प्रेम का प्रचार किया। बौद्ध-साहित्य में भी उनके जीवन से सम्बन्धित अनेक उल्लेख मिलते हैं। तथागत महात्मा बुद्ध महाश्रमण महावीर के समकालीन थे। वर्तमान में श्रमण भगवान् महावीर का ही शासन चल रहा है।

स्वयं-सम्बुद्ध :

तीर्थंकर भगवान् स्वयं-सम्बुद्ध कहलाते हैं। स्वयं-सम्बुद्ध का अर्थ है—अपने-आप प्रबुद्ध होने वाले, बोध पाने वाले, जगने वाले। हजारों लोग ऐसे हैं, जो जगाने पर भी नहीं जगते। उनकी अज्ञान निद्रा अत्यन्त गहरी होती है। कुछ लोग ऐसे होते हैं, जो स्वयं तो नहीं जग सकते, परन्तु दूसरों के द्वारा जगाए जाने पर अवश्य जग उठते हैं। यह श्रेणी साधारण साधकों की है। तीसरी श्रेणी उन पुरुषों की है, जो स्वयमेव समय पर जाग जाते हैं, मोहमाया की निद्रा त्याग देते हैं और मोह-निद्रा में प्रसुप्त विश्व को भी अपनी एक आवाज से जगा देते हैं। हमारे तीर्थंकर इसी श्रेणी के महापुरुष हैं। तीर्थंकर देव किसी के बताये हुए पूर्व निर्धारित संयम-साधना पथ पर नहीं चलते। वे अपने और विश्व के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उत्थान के लिए स्वयं अपने-आप अपने पथ का निर्माण करते हैं। तीर्थंकर का पथ-प्रदर्शन करने के लिए न कोई गुरु होता है, और न कोई शास्त्र। वह स्वयं ही अपना पथ-प्रदर्शक गुरु है, स्वयं ही उस पथ का यात्री है। वह अपना पथ स्वयं खोज निकालता है। स्वावलम्बन का यह महान् आदर्श, तीर्थंकरों के जीवन में कूट-कूट कर भरा होता है। तीर्थंकर देव पुरातन जीर्ण-शीर्ण हुई अनुपयोगी अन्ध और व्यर्थ परम्पराओं को छिन्न-भिन्न कर जन-हित के लिए नयी परम्पराएँ, नयी योजनाएँ स्थापित करते हैं। उनकी क्रान्ति का पथ स्वयं अपना होता है, वह कभी भी परमुखापेक्षी नहीं होते।

पुरुषोत्तम :

तीर्थंकर भगवान् पुरुषोत्तम होते हैं। पुरुषोत्तम, अर्थात् पुरुषों में उत्तम—श्रेष्ठ। भगवान् के क्या बाह्य और क्या आभ्यन्तर—दोनों ही प्रकार के गुण अलौकिक होते हैं, असाधारण होते हैं। भगवान् का रूप त्रिभुवन-मोहक होता है। और, उनका तेज सूर्य को भी हतप्रभ बना देने वाला है। भगवान् का मुखचन्द्र सुर-नर-नाग नयन-मनोहारी होता है। और, उनके दिव्य शरीर में एक-से-एक उत्तम एक हजार आठ लक्षण होते हैं, जो हर किसी दर्शक को उनकी महत्ता की सूचना देते हैं। वज्रऋषभनाराच संहनन का बल और समचतुरस्र संस्थान का सौन्दर्य तो अत्यन्त ही अनूठा होता है। भगवान् के परमौदारिक शरीर के समक्ष देवताओं का दीप्तिमान वैक्रिय शरीर भी बहुत तुच्छ एवं नगण्य मालूम देता है। यह तो है बाह्य ऐश्वर्य की बात! अब जरा अन्तरंग ऐश्वर्य की बात भी मालूम कर लीजिए। तीर्थंकर देव अनन्त चतुष्टय के धर्ता होते हैं। उनके अनन्त-ज्ञान, अनन्त-दर्शन, अनन्त आनन्द, अनन्त शक्ति आदि गुणों की समता भला दूसरे साधारण देवपद-वाच्य कहाँ कर सकते हैं? तीर्थंकर देव के अपने युग मे कोई भी संसारी पुरुष उनके समकक्ष नहीं होता।

पुरुषसिंह :

तीर्थंकर भगवान् पुरुषों में सिंह होते हैं। सिंह एक अज्ञानी पशु है, हिंसक जीव है। अतः कहाँ वह निर्दय एवं क्रूर पशु और कहाँ दया एवं क्षमा के अपूर्व भंडार भगवान्? भगवान् को सिंह की उपमा देना, कुछ उचित नहीं मालूम देता! किन्तु, यह मात्र एकदेशी उपमा है। यहाँ सिंह से अभिप्राय, सिंह की वीरता और पराक्रम मात्र से है। जिस प्रकार वन में पशुओं का राजा सिंह अपने बल और पराक्रम के कारण निर्भय रहता है, कोई भी पशु वीरता में उसकी बराबरी नहीं कर सकता, उसी प्रकार तीर्थंकर देव भी संसार में निर्भय रहते हैं, कोई भी संसारी व्यक्ति उनके आत्म-बल और तपस्त्याग सम्बन्धी वीरता की बराबरी नहीं कर सकता।

सिंह की उपमा देने का एक अभिप्राय और भी हो सकता है। वह यह कि संसार मे दो प्रकृति के मनुष्य होते हैं—एक कुत्ते की प्रकृति के और दूसरे सिंह की प्रकृति के। कुत्ते को जब कोई लाठी मारता है, तो वह लाठी को मुंह में पकड़ता है और समझता है कि लाठी मुझे मार रही है। वह लाठी मारने वाले को नहीं काटने दौड़ता, लाठी को काटने दौड़ता है। इसी प्रकार जब कोई शत्रु किसी को सताता है, तो वह सताया जाने वाला व्यक्ति सोचता है कि यह मेरा शत्रु है, यह मुझे तंग करता है, मैं इसे क्यों न नष्ट कर दूं? वह उस शत्रु को शत्रु बनाने वाले अन्तर-मन के विकारों को नहीं देखता, उन्हें नष्ट करने की बात नहीं सोचता। इसके विपरीत, सिंह की प्रकृति लाठी पकड़ने की नहीं होती, प्रत्युत लाठी वाले को पकड़ने की होती है। संसार के वीतराग महापुरुष भी सिंह के समान अपने शत्रु को शत्रु नहीं समझते, प्रत्युत उनके मन में स्थित विकारों को ही शत्रु समझते हैं। वस्तुतः शत्रुता पैदा करने वाले मन के विकार ही तो हैं। अतः उनका आक्रमण व्यक्ति पर न होकर व्यक्ति के विकारों पर होता है। अपने दया, क्षमा आदि सद्गुणों के प्रभाव से दूसरों के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विकारों को शान्त करते हैं। फलतः शत्रु को भी मित्र बना लेते हैं। तीर्थंकर भगवान्, उक्त विवेचन के प्रकाश में पुरुष-सिंह हैं, पुरुषों में सिंह की वृत्ति रखते हैं।

पुरुषवर पुण्डरीक :

तीर्थंकर भगवान् पुरुषों में श्रेष्ठ पुण्डरीक कमल के समान होते हैं। भगवान् को पुण्डरीक कमल की उपमा बड़ी ही सुन्दर-सार्थक दी गई है। पुण्डरीक श्वेत-कमल का नाम है। दूसरे कमलों की अपेक्षा श्वेत-कमल सौन्दर्य एवं सुगन्ध में अतीव उत्कृष्ट होता है। सम्पूर्ण सरोवर एक श्वेत कमल के द्वारा जितना सुगन्धित हो सकता है, उतना अन्य हजारों कमलों से नहीं हो सकता। दूर-दूर से भ्रमर-वृन्द उसकी सुगन्ध से आकर्षित होकर चले आते हैं, फलतः कमल के आस-पास भँवरों का एक विराट् मेला-सा लगा रहता है। और इधर कमल बिना किसी स्वार्थभाव के दिन-रात अपनी सुगन्ध विश्व को अर्पण करता रहता है। न उसे किसी प्रकार के बदले की भूख है, और न ही कोई अन्य वासना। चुप-चाप मूक सेवा करना ही कमल के उच्च जीवन का आदर्श है।

तीर्थंकरदेव भी मानव-सरोवर में सर्वश्रेष्ठ कमल माने गए हैं। उनके आध्यात्मिक जीवन की सुगन्ध अनन्त होती है। अपने समय में वे अहिंसा और सत्य आदि सद्गुणों की सुगन्ध सर्वत्र फैला देते हैं। पुण्डरीक की सुगन्ध का अस्तित्व तो वर्तमान कालावच्छेदेन ही होता है; किन्तु तीर्थंकरदेवों के जीवन की सुगन्ध तो हजारों-लाखों वर्षों बाद आज भी भक्त-जनता के हृदयों को महका रही है। आज ही नहीं, भविष्य में भी हजारों वर्षों तक इसी प्रकार महकाती रहेगी। महापुरुषों के जीवन की असीम अनन्त सुगन्ध को न दिशा ही अवरुद्ध कर सकती है, और न काल ही।

जिस प्रकार पुण्डरीक श्वेत होता है, उसी प्रकार भगवान् का जीवन भी राग, द्वेष आदि से मुक्त वीतराग-भाव के कारण पूर्णतया निर्मल श्वेत होता है। उसमें क्रोधादि कषाय-भाव का जरा भी रंग नहीं होता।

पुण्डरीक के समान भगवान् भी निस्वार्थभाव से जनता का कल्याण करते हैं, उन्हें किसी से किसी भी प्रकार की लौकिक अपेक्षा, सांसारिक वासना नहीं होती। कमल अज्ञान अवस्था में ऐसा करता है, जबकि भगवान् ज्ञान के विमल प्रकाश में निष्काम-भाव से जन-कल्याण का कार्य करते हैं। यह कमल की अपेक्षा भगवान् की उच्च विशेषता है।

कमल के पास भ्रमर ही आते हैं, जबकि तीर्थंकरदेव के आध्यात्मिक जीवन की सुगन्ध से प्रभावित होकर विश्व के सभी भव्य प्राणी, बिना किसी जाति, कुल या देश आदि भेद के, उनके पावन चरणों में उपस्थित हो जाते हैं।

कमल की उपमा का एक भाव और भी है। वह यह है कि भगवान् संसार में रहते हुए भी संसार की वासनाओं से पूर्णतया निर्लिप्त रहते हैं, जिस प्रकार पानी से लबालब भरे हुए सरोवर में रहकर भी कमल पानी से लिप्त नहीं होता। कमल-पत्र पर पानी की एक भी बूंद अपनी रेखा नहीं डाल सकती। कमल की यह उपमा जैन, बौद्ध, वैदिक आदि प्रायः सभी विशिष्ट सम्प्रदायों में सुप्रसिद्ध आध्यात्मिक उपमा है।

गन्ध-हस्ती :

भगवान् पुरुषों में श्रेष्ठ गन्ध-हस्ती के समान हैं। सिंह की उपमा वीरता की सूचक है, गन्ध की नहीं। और पुण्डरीक की उपमा गन्ध की सूचक है, वीरता की नहीं। परन्तु, गन्ध-हस्ती की उपमा सुगन्ध और वीरता दोनों की सूचना देती है।

गन्ध-हस्ती एक महान् विलक्षण हस्ती होता है। उसके गण्डस्थल से सदैव सुगन्धित मद जल बहता रहता है और उस पर भ्रमर-समूह गूंजते रहते हैं। गन्ध-हस्ती की गन्ध इतनी तीव्र होती है कि युद्धभूमि में जाते ही उसकी सुगन्धमात्र से दूसरे हजारों हाथी त्रस्त होकर भागने लगते हैं, उसके समक्ष कुछ देर के लिए भी नहीं ठहर पाते। यह गन्धहस्ती

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भारतीय-साहित्य में बड़ा मंगलकारी माना गया है। यह जहाँ रहता है, उस प्रदेश में अतिवृष्टि और अनावृष्टि आदि के उपद्रव नहीं होते। सदा सुभिक्ष रहता है, कभी भी दुर्भिक्ष नहीं पड़ता।

तीर्थंकर भगवान् भी मानव-जाति में गन्ध-हस्ती के समान हैं। भगवान् का प्रताप और तेज इतना महान् है कि उनके समक्ष अत्याचार, वैर-विरोध, अज्ञान और पाखण्ड आदि कितने ही भयंकर क्यों न हों, ठहर ही नहीं सकते। चिरकाल से फैले हुए मिथ्या विश्वास, भगवान् की वाणी के समक्ष सहसा छिन्न-भिन्न हो जाते हैं, सब ओर सत्य का अखण्ड साम्राज्य स्थापित हो जाता है।

भगवान् गन्ध-हस्ती के समान विश्व के लिए मंगलकारी हैं। जिस देश में भगवान् का पदार्पण होता है, उस देश में अतिवृष्टि, अनावृष्टि, महामारी आदि किसी भी प्रकार के उपद्रव नहीं होते। यदि पहले से उपद्रव हो भी रहे हों, तो भगवान् के पधारते ही सब-के-सब पूर्णतया शान्त हो जाते हैं। समवायांग-सूत्र में तीर्थङ्कर देव के चौतीस अतिशयों का वर्णन है। वहाँ लिखा है कि "जहाँ तीर्थंकर भगवान् विराजमान होते हैं, वहाँ आस-पास सौ-सौ कोस तक महामारी आदि के उपद्रव नहीं होते। यदि पहले से हों भी, तो शीघ्र ही शान्त हो जाते हैं।" यह भगवान् का कितना महान् विश्व-हितंकर रूप है! भगवान् की महिमा केवल अन्तरंग के काम, क्रोध आदि उपद्रवों को शान्त करने में ही नहीं है, अपितु बाह्य उपद्रवों की शान्ति में भी है।

प्रश्न किया जा सकता है कि एक सम्प्रदाय की मान्यता के अनुसार तो जीवों की रक्षा करना, उन्हें दुःख से बचाना पाप है। दुःखों को भोगना, अपने पाप-कर्मों का ऋण चुकाना है। अतः भगवान् का यह जीवों को दुःखों से बचाने का अतिशय क्यों? उत्तर में निवेदन है कि भगवान् का जीवन मंगलमय है। वे क्या आध्यात्मिक और क्या भौतिक, सभी प्रकार से जनता के दुःखों को दूर कर शान्ति का साम्राज्य स्थापित करते हैं। यदि दूसरों को अपने निमित्त से सुख पहुँचाना पाप होता, तो भगवान् को यह पाप-वर्द्धक अतिशय मिलता ही क्यों? यह अतिशय तो पुण्यानुबन्धी पुण्य के द्वारा प्राप्त होता है, फलतः जगत् का कल्याण करता है। इसमें पाप की कल्पना करना अज्ञानता है। कौन कहता है कि जीवों की रक्षा करना पाप है? यदि पाप है, तो भगवान् को यह पाप-जनक अतिशय कैसे मिला? यदि किसी को सुख पहुँचाना वस्तुतः पाप ही होता, तो भगवान् क्यों नहीं किसी पर्वत की गुहा में बैठे रहे? क्यों दूर-सुदूर देशों में भ्रमण कर जगत् का कल्याण करते रहे? अतएव यह भ्रान्त कल्पना है कि किसी को सुख-शान्ति देने से पाप होता है। भगवान् का यह मंगलमय अतिशय ही इसके विरोध में सबसे बड़ा और प्रबल प्रमाण है।

लोक-प्रदीप :

तीर्थंकर भगवान् लोक में प्रकाश करने वाले अनुपम दीपक हैं। जब संसार में अज्ञान का अन्धकार घनीभूत हो जाता है, जनता को अपने हित-अहित का कुछ भी भान नहीं रहता है, सत्य-धर्म का मार्ग एक प्रकार से विलुप्त-सा हो जाता है, तब तीर्थंकर भगवान् अपने केवलज्ञान का प्रकाश विश्व में फैलाते हैं और जनता के मिथ्यात्व-अन्धकार को नष्ट कर सन्मार्ग का पथ आलोकित करते हैं।

घर का दीपक घर के कोने में प्रकाश करता है, उसका प्रकाश सीमित और धुंधला होता है। परन्तु, भगवान् तो तीन लोक के दीपक हैं, तीन लोक में प्रकाश करने का महान् दायित्व अपने पर रखते हैं। घर का दीपक प्रकाश करने के लिए तेल और बत्ती की अपेक्षा रखता है, अपने-आप प्रकाश नहीं करता, जलाने पर प्रकाश करता है, वह भी सीमित प्रदेश में और सीमित काल तक! परन्तु तीर्थंकर भगवान् तो बिना किसी अपेक्षा के अपने-आप तीन लोक और तीन काल को प्रकाशित करने वाले हैं। भगवान् कितने अनोखे दीपक हैं!

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भगवन् को दीपक की उपमा क्यों दी गई है? सूर्य और चन्द्र आदि की अन्य सब उत्कृष्ट उपमाएँ छोड़ कर दीपक ही क्यों अपनाया गया? प्रश्न ठीक है, परन्तु जरा गम्भीरता से सोचिए, नन्हें से दीपक की महत्ता, स्पष्टतः झलक उठेगी। बात यह है कि सूर्य और चन्द्र प्रकाश तो करते हैं, किन्तु किसी को अपने समान प्रकाशमान नहीं बना सकते। इधर लघु दीपक अपने संसर्ग में आए, अपने से संयुक्त हुए हजारों दीपकों को प्रदीप्त कर अपने समान ही प्रकाशमान दीपक बना देता है। वे भी उसी की तरह जगमगाने लगते हैं और अन्धकार को छिन्न-भिन्न करने लगते हैं। अतः स्पष्ट है कि दीपक प्रकाश देकर ही नहीं रह जाता, वह दूसरों को अपने समान भी बना लेता है। तीर्थंकर भगवान् भी इसी प्रकार केवलज्ञान का प्रकाश प्राप्त कर मौन-विश्रान्ति नहीं लेते, प्रत्युत अपने निकट संसर्ग में आने वाले अन्य साधकों को भी साधना का पथ प्रदर्शित कर, अन्त में अपने समान ही अर्हन्त बना लेते हैं। तीर्थंकरों का ध्याता, सदा ध्याता ही नहीं रहता, वह ध्यान के द्वारा अन्ततोगत्वा, ध्येय-रूप में परिणत हो जाता है। उक्त सिद्धान्त की साक्षी के लिए गौतम और चन्दना आदि के इतिहास प्रसिद्ध उदाहरण, हर कोई जिज्ञासु देख सकता है।

अभयदयः——अभय-दान के दाता :

संसार के सब दानों में अभय-दान श्रेष्ठ है। हृदय की करुणा अभय-दान में ही पूर्णतया तरंगित होती है। अभयदान की महत्ता के सम्बन्ध में भगवान महावीर के पंचम गणधर सुधर्मा का अनुभूत बोध-वचन है—

'दाणाण सेट्ठं अभयप्पयाणं।'

——सूत्रकृतांग, ६।२३

अस्तु, तीर्थंकर भगवान् तीन लोक में अलौकिक एवं अनुपम दयालु होते हैं। उनके हृदय में करुणा का सागर हर क्षण तरंगित रहता है। विरोधी-से-विरोधी के प्रति भी उनके हृदय से करुणा की सतत धारा ही बहा करती है। गोशालक कितना उद्दण्ड प्राणी था? परन्तु, भगवान् ने तो उसे भी क्रुद्ध तपस्वी की तेजोलेश्या से जलते हुए बचाया। चण्डकौशिक पर कितनी अनन्त करुणा की है? तीर्थंकर देव उस युग में जन्म लेते हैं, जब मानव-सभ्यता अपना पथ भूल जाती है। फलतः सब ओर अन्याय एवं अत्याचार का दम्भपूर्ण साम्राज्य छा जाता है। उस समय तीर्थंकर भगवान् क्या स्त्री, क्या पुरुष, क्या राजा, क्या रंक, क्या ब्राह्मण, क्या शूद्र, सभी को सन्मार्ग का उपदेश करते हैं। संसार के मिथ्यात्व-वन में भटकते हुए मानव-समूह को सन्मार्ग पर लाकर उसे निराकुल बनाना, अभय-प्रदान करना, एकमात्र तीर्थंकर देवों का ही महान् कार्य है!

चक्षुर्दय : ज्ञाननेत्र के दाता :

तीर्थंकर भगवान् आँखों के देने वाले हैं। कितना ही हृष्ट-पुष्ट मनुष्य हो, यदि आँख नहीं, तो कुछ भी नहीं। आँखों के अभाव में जीवन भार हो जाता है। अंधे को आँख मिल जाए, फिर देखिए, कितना आनंदित होता है वह। तीर्थंकर भगवान् वस्तुतः अंधों को आँखें देने वाले हैं। जब जनता के ज्ञाननेत्रों के समक्ष अज्ञान का तिमिर-जाल छा जाता है, तब तीर्थंकर ही जनता को ज्ञान-नेत्र अर्पण करते हैं, अज्ञान का जाला साफ करते हैं।

पुरानी कहानी है कि एक देवता का मन्दिर था, बड़ा ही चमत्कार पूर्ण! वह, आने वाले अन्धों को नेत्र-ज्योति दिया करता था। अन्धे लाठी टेकते आते और इधर आँखें पाते ही द्वार पर लाठी फेंक कर घर चले जाते! तीर्थंकर भगवान् भी वस्तुतः ऐसे ही चमत्कारी देव हैं। इनके द्वार पर जो भी काम और क्रोध आदि विकारों से दूषित अज्ञानी अन्धा आता है, वह ज्ञान-नेत्र पाकर प्रसन्न होता हुआ लौटता है। चण्डकौशिक आदि ऐसे ही जन्म-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जन्मान्तर के अन्धे थे, परन्तु भगवान् के पास आते ही अज्ञान का अन्धकार दूर हो गया, सत्य का प्रकाश जगमगा गया। ज्ञान-नेत्र की ज्योति पाते ही सब भ्रान्तियाँ क्षण-भर में दूर हो गईं।

धर्मचक्रवर्ती :

तीर्थंकर भगवान् धर्म के श्रेष्ठ चक्रवर्ती हैं, चार दिशारूप चार गतियों का अन्त करने वाले हैं। जब देश में सब ओर अराजकता छा जाती है, तथा छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त होकर देश की एकता नष्ट हो जाती है, तब चक्रवर्ती का चक्र ही पुनः अखण्ड-एकछत्र राज्य की सुव्यवस्था करता है, यह सम्पूर्ण बिखरी हुई देश की शक्ति को एक शासन के नीचे लाता है। सार्वभौम राज्य के बिना प्रजा में शान्ति की व्यवस्था नहीं हो सकती। अतः चक्रवर्ती इसी उद्देश्य की पूर्ति करता है। वह पूर्व, पश्चिम और दक्षिण इन तीन दिशाओं में समुद्र-पर्यन्त तथा उत्तर में हिमवान् पर्वत पर्यन्त अपना अखण्ड साम्राज्य स्थापित करता है। अतः वह चतुरन्त चक्रवर्ती कहलाता है।

तीर्थंकर भगवान् भी नरक, तिर्यंच, मनुष्य, देवरूप चारों गतियों के विकारों का अन्त कर सम्पूर्ण विश्व में अपना अहिंसा और सत्य का धर्म-राज्य स्थापित करते हैं। दान, शील, तप और भावरूप चतुर्विध धर्म की साधना वे स्वयं अन्तिम कोटि तक करते हैं, और जनता को भी इस पवित्र धर्म का उपदेश देते हैं, अतः वे धर्म के चतुरन्त चक्रवर्ती कहलाते हैं। भगवान् का धर्म-चक्र ही वस्तुतः संसार में भौतिक एवं आध्यात्मिक—सर्व-प्रकारेण अखण्ड-शान्ति कायम कर सकता है। अपने-अपने मत-जन्य दुराग्रह के कारण फैली हुई धार्मिक अराजकता का अन्त कर अखण्ड धर्म-राज्य की स्थापना तीर्थंकर ही करते हैं। वस्तुतः यदि विचार किया जाए, तो भौतिक जगत् के प्रतिनिधि चक्रवर्ती से यह संसार कभी स्थायी शान्ति पा ही नहीं सकता। चक्रवर्ती तो भोग-वासना का दास एक पामर संसारी प्राणी है। उसके चक्र के मूल में साम्राज्य-लिप्सा का विष छुपा रहता है। जनता का परमार्थ नहीं, अपना स्वार्थ निहित रहता है। यही कारण है कि जहाँ चक्रवर्ती का शासन मानव-प्रजा के निरपराध रक्त से सींचा जाता है, वहाँ हृदय पर नहीं, शरीर पर विजय पाने का प्रयत्न होता है। परन्तु तीर्थंकर धर्म-चक्रवर्ती हैं। अतः वे पहले अपनी ही तपःसाधना के बल से काम, क्रोधादि अन्तरंग शत्रुओं को नष्ट करते हैं, पश्चात् जनता के लिए धर्म-तीर्थ की स्थापना कर अखण्ड आध्यात्मिक शान्ति का साम्राज्य कायम करते हैं। तीर्थंकर शरीर के नहीं, हृदय के सम्राट् बनते हैं। फलतः वे संसार में पारस्परिक प्रेम एवं सहानुभूति का, त्याग एवं वैराग्य का विश्व-हितंकर शासन चलाते हैं। वास्तविक सुख-शान्ति, इन्हीं धर्म-चक्रवर्तियों के शासन की छत्रछाया में प्राप्त हो सकती है, अन्यत्र नहीं। तीर्थंकर भगवान् का शासन तो चक्रवर्तियों पर भी होता है। भोग-विलास के कारण जीवन की भूल-भुलैय्या में पड़ जाने वाले और अपने कर्तव्य से पराङ्मुख हो जाने वाले चक्रवर्तियों को तीर्थंकर ही उपदेश देकर सन्मार्ग पर लाते हैं, कर्तव्य का भान कराते हैं। अतः तीर्थंकर भगवान् चक्रवर्तियों के भी चक्रवर्ती हैं।

व्यावृत्त छद्म :

तीर्थंकर देव व्यावृत्त-छद्म कहलाते हैं। व्यावृत्त-छद्म का अर्थ है—'छद्म से रहित।' छद्म के दो अर्थ हैं—आवरण और छल। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय, उक्त चार घातिया कर्म आत्मा की ज्ञान, दर्शन आदि मूल शक्तियों को छादन किए रहते हैं, ढँके रहते हैं, अतः वे छद्म कहलाते हैं—

'छादयतीति छद्म ज्ञानावरणीयादि'

—प्रतिक्रमण सूत्र पद-विवृत्ति, प्रणिपात-दण्डक

और, जो इस छद्म से, ज्ञानावरणीय आदि चार घातिया कर्मों से पूर्णतया अलग हो गये हैं, वे 'व्यावृत्त-छद्म' कहलाते हैं। तीर्थंकर देव अज्ञान और मोह आदि से सर्वथा रहित

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होते हैं। छद्म का दूसरा अर्थ है—'छल और प्रमाद।' अतः छल और प्रमाद से रहित होने के कारण भी तीर्थंकर 'व्यावृत्तछद्म' कहे जाते हैं।

तीर्थंकर भगवान् का जीवन पूर्णतया सरल और समरस रहता है। किसी भी प्रकार की गोपनीयता या विषमता उनके मन में नहीं होती। क्या अन्दर और क्या बाहर, सर्वत्र समभाव रहता है, स्पष्ट भाव रहता है। यही कारण है कि भगवान् महावीर आदि तीर्थंकरों का जीवन पूर्ण आप्त पुरुषों का जीवन रहा है। उन्होंने कभी भी दुहरी बातें नहीं की। परिचित और अपरिचित, साधारण जनता और असाधारण सम्राट् आदि, नासमझ बालक और समझदार वृद्ध—सबके समक्ष एक समान रहे। जो कुछ भी परम सत्य उन्होंने प्राप्त किया, निश्छल-भाव से जनता को अर्पण किया। यही आप्त-जीवन है, जो शास्त्र में प्रामाणिकता लाता है। आप्त-पुरुष का कहा हुआ प्रवचन ही प्रमाणाबाधित, तत्त्वोपदेशक, सर्व-जीव-हितंकर, अदृष्ट-दृष्ट के विरोध से रहित अकाट्य तथा मिथ्या-मार्ग का निराकरण करने वाला होता है। आचार्य सिद्धसेन तथा आचार्य समन्तभद्र ने शास्त्र का उल्लेख करते हुए कहा है—

"आप्तोपज्ञमनुल्लङ्घ्य—
मदृष्टेष्टविरोधकम्।
तत्त्वोपदेशकृत् सार्वं,
शास्त्रं कापथ-घट्टनम्॥"

—न्यायावतार सूत्र, रत्नकरण्ड श्रावकाचार

तीर्थंकर की वाणी : जन-कल्याणी :

तीर्थंकर भगवान् के लिए जिन, जापक, तीर्ण, तारक, बुद्ध, बोधक, मुक्त और मोचक के विशेषण बड़े ही महत्त्वपूर्ण हैं। तीर्थंकरों का उच्च-जीवन वस्तुतः इन विशेषणों पर ही अवलम्बित है। राग-द्वेष को स्वयं जीतना और दूसरे साधकों से जितवाना, संसार-सागर से स्वयं तैरना और दूसरे प्राणियों को तैराना, केवलज्ञान पाकर स्वयं बुद्ध होना और दूसरों को बोध देना, कर्म-बन्धनों से स्वयं मुक्त होना और दूसरों को मुक्त कराना, कितना महान् एवं मंगलमय आदर्श है! जो लोग एकान्त निवृत्ति-मार्ग के गीत गाते हैं, अपनी आत्मा को ही तारने मात्र का स्वप्न रखते हैं, उन्हें इस ओर लक्ष्य देना चाहिए!

मैं पूछता हूँ, तीर्थंकर भगवान् गंगा आदि महानदियों को पार करते हुए क्यों दूर-दूर देशों में भ्रमण कर अहिंसा और सत्य का सन्देश देते हैं? वे तो केवलज्ञान और केवलदर्शन को पाकर कृतकृत्य हो गए हैं। अब उनके लिए क्या पाना और क्या करना शेष है? संसार के दूसरे जीव मुक्त होते हैं या नहीं, इससे उनको क्या हानि-लाभ? यदि लोग धर्म-साधना करेंगे, तो उन्हीं को लाभ है और नहीं करेंगे, तो उन्हीं को हानि है। उनके लाभ और हानि से, भगवान् को क्या लाभ-हानि है? जनता को प्रबोध देने से उनकी मुक्ति में क्या विशेषता हो जाएगी? और यदि प्रबोध न दें, तो कौन-सी विशेषता कम हो जाएगी?

इन सब प्रश्नों का उत्तर जैनागमों का मर्मी पाठक यही देता है कि जनता को प्रबोध देने और न देने से, भगवान् को कुछ भी व्यक्तिगत हानि-लाभ नहीं है। भगवान् किसी स्वार्थ को लक्ष्य में रखकर कुछ भी नहीं करते। न उनको पंथ चलाने का मोह है, न शिष्यों की टोली जमा करने का स्वार्थ है। न उन्हें पूजा-प्रतिष्ठा चाहिए और न मान-सम्मान! वे तो पूर्ण वीतराग पुरुष हैं। अतः उनकी प्रत्येक प्रवृत्ति केवल करुणाभाव से होती है। जन-कल्याण की श्रेष्ठ भावना ही धर्म-प्रचार के मूल में निहित है, और कुछ नहीं। तीर्थंकर अनन्त-करुणा के सागर हैं। फलतः किसी भी जीव को मोह-माया में आकुल देखना उनके लिए करुणा की वस्तु है। यह करुणा-भावना ही उनके महान् प्रवृत्तिशील जीवन की आधारशिला है। जैन-संस्कृति का गौरव प्रत्येक बात में केवल अपना हानि-लाभ देखने में ही नहीं है, प्रत्युत जनता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का हानि-लाभ देखने में भी है। केवलज्ञान पाने के बाद तीस वर्ष तक भगवान् महावीर निष्काम भाव से जन-सेवा करते रहे। तीस वर्ष के धर्म-प्रचार से एवं जन-कल्याण से भगवान् को कुछ भी व्यक्तिगत लाभ न हुआ, और न उनको इसकी अपेक्षा ही थी। उनका अपना आध्यात्मिक जीवन बन चुका था, और कुछ साधना शेष नहीं रहा था; फिर भी विश्व-करुणा की भावना से जीवन के अन्तिम क्षण तक जनता को सन्मार्ग का उपदेश देते रहे। आचार्य शीलांक ने सूत्रकृतांग सूत्र की अपनी टीका में इसी बात को ध्यान में रखकर कहा है—

"धर्ममुक्तवान् प्राणिनामनुग्रहार्थम्, न पूजा-सत्कारार्थम्"

—सूत्रकृतांग टीका १।६।४.

केवल टीका में ही नहीं, जैन-धर्म के मूल आगम-साहित्य में भी यही भाव बताया गया है—

"सव्वजगजीव-रक्खण-दयट्ठयाए पावयणं भगवया सुकहियं"

——प्रश्नव्याकरण-सूत्र २।१

तीर्थंकर सर्वज्ञ-सर्वदर्शी :

सूत्रकार ने 'जिणाणं' आदि विशेषणों के बाद **'सव्वन्नूणं सव्वदरिसीणं'** के विशेषण बड़े ही गम्भीर अनुभव के आधार पर रखे हैं। जैन-धर्म में सर्वज्ञता के लिए शर्त है, राग और द्वेष का क्षय हो जाना। राग-द्वेष का सम्पूर्ण क्षय किए बिना, अर्थात् उत्कृष्ट वीतराग भाव सम्पादन किए बिना सर्वज्ञता सम्भव नहीं। सर्वज्ञता प्राप्त किए बिना पूर्ण आप्त-पुरुष नहीं हो सकता। पूर्ण आप्त-पुरुष हुए बिना त्रिलोक-पूज्यता नहीं हो सकती, तीर्थंकर पद की प्राप्ति नहीं हो सकती। उक्त 'जिणाणं' पद ध्वनित करता है कि जैन-धर्म में वही आत्मा सुदेव है, परमात्मा है, ईश्वर है, परमेश्वर है, परब्रह्म है, सच्चिदानन्द है, जिसने चतुर्गति-रूप संसार-वन में परिभ्रमण कराने वाले राग-द्वेष आदि अन्तरंग शत्रुओं को पूर्णरूप से नष्ट कर दिया है। जिसमें राग-द्वेष आदि विकारों का थोड़ा भी अंश हो, वह साधक भले ही हो सकता है, परन्तु वह देवाधिदेव तीर्थंकर अथवा अर्हन्त परमात्मा नहीं हो सकता। आचार्य हेमचन्द्र कहते हैं—

"सर्वज्ञो जितरागादि-दोषस्त्रैलोक्य-पूजितः।
यथास्थितार्थ-वादी च, देवोऽर्हन् परमेश्वरः॥"

——योगशास्त्र २।४

सर्वज्ञता का, एक बड़ा ही सरल एवं व्यावहारिक अर्थ है—**'आत्मवत् सर्व भूतेषु'** की उदात्त दृष्टि। तात्पर्य यह है कि जब एक साधक व्यक्ति अपनी आत्मा का विकास ऐसे उच्च एवं विस्तृत धरातल पर कर लेता है, जहाँ विश्व की समस्त अनुभूति को, सुख, दुःख, हर्ष, विषाद, प्रमोद एवं पीड़ा की भावनाओं को अपनी मैत्री-करुणा की भावना में अन्तर्भूत कर लेता है, विश्व की समस्त आत्माओं में अपनी आत्मा को मिला देता है, वस्तुतः ऐसी ही विश्व-पीठिका पर, वह सर्वज्ञ हो जाता है। सर्वज्ञ का सीधा फलितार्थ यही है कि हम भी उनके समान ही विश्व की सभी आत्माओं को समभाव से, समानरूप से देखें। इस स्थिति में वैयक्तिक आत्मा की आवाज, विश्वात्मा की आवाज होती है, उसका चिन्तन विश्व-आत्मा का चिन्तन होता है, उसकी अनुभूति, विश्व-आत्मा की अनुभूति होती है। भावरूप से विश्व उसमें निहित होता है और वह विश्वमय हो जाता है। वही सर्वज्ञ होता है, सर्वदर्शी होता है, तीर्थंकर होता है, अर्हन्त होता है।

★

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org